भारत में सामाजिक न्याय का अवधारणात्मक विकास

कुमार सौरभ *

सारांश

सामाजिक न्याय, जो न केवल 'सामान्य हित' की बात करता है बल्कि यह आधुनिक शासन एवं राजनीति के प्रमुख तत्त्वों, यथा–'विधि का शासन', 'विधि के समक्ष समानता', 'न्यायपालिका की स्वतंत्रता', 'व्यक्ति की गरिमा', 'लोक कल्याण', 'सामाजिक–आर्थिक एवं राजनीतिक समावेशन' आदि पर बल देता है। सामान्यतः सामाजिक न्याय का उद्देश्य एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना करने से है जिसमें समाज के असुरक्षित, उपेक्षित, दलित एवं हाशिए पर स्थित लोगों तथा महिलाओं को समाज की मुख्य धारा से जोड़ा जा सके। इस उद्देश्य की ओर संकेत करते हुये रूसो ने कहा है–''कोई व्यक्ति इतना अमीर न हो कि वह दूसरे व्यक्ति के जीवन पर नियंत्रण करे, और न ही कोई व्यक्ति इतना निर्धन हो कि वह स्वयं को बेचने के लिए बाध्य हो जाए।'' यदि हम भारतीय परिदृश्य में सामाजिक न्याय की बात करें तो न केवल भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय हेतु विस्तृत प्रावधान किये गये हैं बल्कि स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी, डॉ0 अम्बेडकर, ज्योतिबा फुले, पं0 नेहरू, पेरियार आदि के विचारों में सामाजिक न्याय की स्पष्ट झलक मिलती है। महात्मा गांधी ने 'सबका अधिकतम हित' की संकल्पना व्यक्त की साथ ही उन्होंने अपने 'सर्वोदय सिद्धान्त' में राज्य को सर्वोदय के नाम पर सभी की भलाई का कार्य अनावश्यक रूप से स्वयं अपने ऊपर न लेने के प्रति सजग भी किया है जबकि स्वामी विवेकानन्द जी ने समाज में किसी भी प्रकार के विशेषाधिकार व भेदभाव न होने पर बल दिया है किन्तु स्वामी जी 'सामाजिक न्याय' की स्थापना हेतु शूद्रों एवं महिलाओं के पक्ष में विशेषाधिकार होने अर्थात सकारात्मक विभेद के हिमायती थे। वहीं डॉ0 अम्बेडकर का चिन्तन मुख्यतः 'दलित एवं वंचित वर्ग के अधिकारों के लिए संघर्ष एवं अस्पृश्यता का अन्त' पर केन्द्रित रहा है। वे 'जन्म से व्यक्ति की समानता' और 'सामाजिक लोकतंत्र' के प्रमुख हिमायती थे। डॉ0 भीमराव अम्बेडकर के साथ–साथ स्वामी विवेकानन्द व महात्मा गांधी के विचारों की स्पष्ट झलक हमें भारतीय संविधान से प्राप्त होती है। भारतीय परिदृश्य में सामाजिक न्याय के अध्ययन के पहले उसके वैश्विक परिदृश्य की संक्षिप्त जानकारी प्राप्त कर लेना प्रासंगिक होगा।

प्रस्तावना

यद्यपि कि 'न्याय' का सिद्धान्त प्राचीन यूनानी राजनीतिक दर्शन के अन्तर्गत चिन्तन का एक प्रमुख विषय रहा है तथापि यह सिद्धान्त (साामजिक न्याय का सिद्धान्त) बीसवीं सदी के प्रमुख राजनीतिक विचारक जॉन रॉल्स से सम्बद्ध सिद्धान्त के रूप में जाना जाता है। वैश्विक स्तर पर न्याय की प्राचीनतम् संकल्पना 'सत्य बोलना', 'ऋण चुका देना', 'शक्तिशाली का हित' आदि बिन्दुओं पर केन्द्रित रही। बाद में इन संकल्पनाओं का खण्डन करते हुये महान दार्शनिक प्लेटो ने अपनी विश्व प्रसिद्ध कृति 'रिपब्लिक' में एक वस्तुमूलक सिद्धान्त के रूप में न्याय को स्पष्ट आधार देते हुये 'मानवीय आत्मा की उचित अवसर एवं मानवीय स्वभाव की स्वाभाविक माँग' के रूप में विश्लेषित किया तो वहीं अरस्तू ने न्याय को 'समानता के नियमों के परिपालन' के रूप में व्याख्यायित किया तथा न्याय के दो रूपों–वितरणात्मक न्याय एवं उपचारात्मक न्याय की बात की। इसके साथ–साथ एक्वीनॉस, डेविड ह्यूम, हरबर्ट स्पेंसर, पीटर क्रॉपाटिकिन आदि ने भी सामाजिक न्याय पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। यहाँ पर सामाजिक न्याय से सम्बद्ध जॉन रॉल्स के सिद्धान्तों का संक्षिप्त अवलोकन अधिक समीचीन होगा।

मूल शब्दः– सामाजिक न्याय, स्वतंत्रता, समानता, विकास, मानव सेवा, भारत आदि।

* शोध छात्र, राजनीति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

रॉल्स का सामाजिक न्याय

बीसवीं सदी में औद्योगिक क्रांति, आधुनिकीकरण, वैश्वीकरण आदि के समय में विकास का एक ऐसा युग आरम्भ हुआ जिसमें समाज का एक बड़ा हिस्सा स्वयं को ठगा हुआ महसूस कर रहा था। यह विकास समाज के एक बड़े हिस्से के लिए 'जड़विहीन' 'स्वरविहीन/मताधिकार विहीन' एवं 'शक्ति विहीन' समाज को सृजित करने वाला विकास था। विकास के इस दौर में जॉन रॉल्स (1921–2002) द्वारा अपनी प्रमुख पुस्तक "A Theory of Justice" (1971) के अन्तर्गत सामाजिक न्याय से सम्बद्ध 'उदार समतावाद का सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया। रॉल्स अपने सिद्धान्त में 'व्यक्ति को गरिमापूर्ण जीवन जीने' एवं 'व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास के लिए अनिवार्य 'प्राथमिक वस्तुएँ', जो प्रत्येक व्यक्ति की प्रारम्भिक आवश्यकता है, के वितरण की बात की है। वे प्रारम्भिक वस्तुएँ हैं–'आय और सम्पत्ति', 'शक्ति एवं अवसर', 'अधिकार एवं समानता' जिसके वितरण के लिए रॉल्स दो प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है:–

1. स्वतंत्रता एवं अधिकार के सम्बन्ध में समान स्वतंत्रता का सिद्धान्त
2 (क) अवसर की उचित समानता का सिद्धान्त
(ख) भेदमूलक सिद्धान्त

इन सिद्धान्तों के माध्यम से रॉल्स सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए सक्रिय एवं सकारात्मक भूमिका वाले राज्य का समर्थन करता है, जिसमें वह निर्णय–निर्माण प्रक्रिया में अधिकाधिक जनभागीदारी, समान अवसर, राज्य द्वारा आर्थिक सहयोग, कार्य के चयन की स्वतंत्रता, न्यूनतम सामाजिक आवश्यकताओं की गारण्टी इत्यादि जैसे अधिकार दिये जाने की बात करता है।

भारत में सामाजिक न्याय की अवधारणा

'वसुधैव कुटुम्बकम्' एवं 'सर्वधर्म समभाव' की भावना से ओतप्रोत भारतीय दर्शन सामाजिक न्याय के पक्ष पर प्रारम्भ से सजग रहा है। भारतीय दर्शन में जहाँ एक ओर 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।' अर्थात् 'सभी सुखी हों, सभी निरोग हों, सभी शुभ का दर्शन करें एवं कोई दुःखी न हो' की संकल्पना, समानता पर आधारित बौद्ध एवं जैन धर्म की प्रधानता तथा दूसरी ओर अशोक का 'धम्म' भारत में सामाजिक न्याय की संकल्पना की प्राचीनता को व्यक्त करता है। मध्यकाल में कबीर, नानक, रैदास आदि की रचनाएँ सामाजिक न्याय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। जैसा कि कबीर ने जाति प्रथा एवं ऊँच–नीच का विरोध करते हुये लिखा है–''साईं के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोय''। इस संदर्भ में कबीरदास जी की एक अन्य पंक्ति महत्त्वपूर्ण है–''हरि को भजे सो हरि का होई। जाति पाँति पूछै नहि कोई।।'' आधुनिक भारत सामाजिक न्याय के संदर्भ में न केवल राजनीतिक दर्शन की दृष्टि से बल्कि संवैधानिक प्रावधान एवं संविधानेतर प्रयासों की दृष्टि से अधिक समृद्ध रहा है। इस स्थिति में भारत में सामाजिक न्याय की अवधारणा को निम्नलिखित तीन बिन्दुओं पर विश्लेषित कर सकते हैं :–

1. भारतीय राजनीतिक दर्शन में सामाजिक न्याय।
2. सामाजिक न्याय की स्थापना हेतु संवैधानिक प्रावधान।
3. सामाजिक न्याय की स्थापना हेतु संविधानेतर प्रयत्न।

भारतीय राजनीतिक दर्शन में सामाजिक न्याय

जैसा कि हमने पहले भी उल्लेख किया है कि भारतीय राजनीतिक दर्शन सामाजिक न्याय की स्थापना के संदर्भ में प्राचीनकाल से ही समृद्ध रहा है। सामाजिक न्याय की स्थापना की परम्परा भारतीय धर्म ग्रन्थों से प्रारम्भ होकर महावीर, गौतम बुद्ध, कबीर, नानक, मीरा से होते हुये राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी, डॉ0 अम्बेडकर, ज्योतिबा फूले जैसे मजबूत हाथों में रही है।

स्वामी विवेकानन्द के सामाजिक न्याय सम्बन्धी विचार

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के 'आध्यात्मिक पिता' स्वामी विवेकानन्द, समाज के दुर्बल वर्ग के प्रति अधिक चिन्तित थे। स्वामी विवेकानन्द जी का मानना था कि मनुष्य का परमलक्ष्य ईश्वर से साक्षात्कार है, जो मानव समुदाय की सेवा के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। उनका मानना है कि मनुष्य ही ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है, अतः ईश्वर को प्राप्त करने के लिए 'मानव सेवा' सर्वोत्तम साधन है। स्वामी जी अपने चिन्तन में मानव सेवा को भी विश्लेषित करते हैं तथा कहते हैं कि हमें ऐसे लोगों की सेवा एवं सहायता करनी चाहिए जिन्हें हमारी आवश्यकता हो। ये ऐसे लोग हैं जो दीन–दुःखी, असहाय, पीड़ित, गरीब हैं। ये ऐसे लोग हैं जो समाज की मुख्य धारा से वंचित हैं, जो स्वयं को असुरक्षित महसूस करते हैं। इस आधार पर स्वामी जी ने 'दरिद्र नारायण' की संकल्पना प्रस्तुत कीया है। 'दरिद्र नारायण' की संकल्पना के आधार पर समाज में व्याप्त कुरीतियों–जाति प्रथा, छुआछूत, शोषण, बेगार जैसी अमानवीय प्रथाओं की आलोचना की है। एक स्थान पर स्वामी जी कहते हैं–''जब देश में लाखों लोग भूखे तथा अज्ञानी हैं, मैं ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को देशद्रोही समझूँगा जिन्होंने उनकी मेहनत की कमाई से शिक्षा ग्रहण की, पर उनकी परवाह नहीं करते।''

स्वामी जी धर्म के नाम पर हो रहे शोषण एवं सामाजिक भेदभाव तथा शूद्रों एवं महिलाओं के साथ सामाजिक स्तर पर हो रहे अन्याय के घोर विरोधी रहे हैं, जिसकी आलोचना करते हुये स्वामी जी कहते हैं–''हमारा धर्म रसोईघर में है, हमारा ईश्वर खाना बनाने के बर्तन में और हमारा धर्म मुझे छुओ मत मैं पवित्र हूँ, में है।'' उनका मानना था कि यदि एक शताब्दी तक यह चलता रहा तो हम सब पागलखाने में होंगे। अपने इन विचारों के माध्यम से स्वामी जी एक समानता आधारित समाज की स्थापना करना चाहते हैं जिसमें उन्होंने 'सर्वधर्म समभाव' की भावना पर बल दिया है। स्वामी जी कहते हैं कि समाज में किसी भी प्रकार के विशेषाधिकार नहीं होने चाहिए, समाज में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं होना चाहिए, मगर यदि 'सामाजिक हित' व 'सामाजिक न्याय' की स्थापना हेतु ऐसा किया जाना आवश्यक हो तो यह विशेषाधिकार एवं विभेद समाज के उन वर्गों के पक्ष में होना चाहिए, जिन्हें इनकी सर्वाधिक आवश्यकता है। स्वामी जी शूद्रों एवं महिलाओं के पक्ष में विशेषाधिकार होने अर्थात् सकारात्मक विभेद के हिमायती थे।

महात्मा गांधी एवं सामाजिक न्याय की अवधारणा

भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के 'महानायक', राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का सम्पूर्ण जीवन 'सत्य, अहिंसा एवं सत्याग्रह' से सम्बद्ध विचारधारा पर आधारित रहा है। वस्तुतः गांधी जी द्वारा 'गांधीवाद' या 'सामाजिक न्याय का सिद्धान्त' जैसे किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया अर्थात् दूसरे शब्दों में कहें तो गांधीवाद जैसा कोई सिद्धान्त नहीं है। सामान्यतः गांधी जी के विचारों का अध्ययन उनके पत्रों, लेखों एवं भाषणों के आधार पर किया जाता है। हम गांधी जी के इन्हीं विचारों का अवलोकन सामाजिक न्याय के संदर्भ में करेंगे।

सामाजिक न्याय के सम्बन्ध में गांधी जी के विचारों की बात करें तो उन्होंने बेंथम के 'उपयोगितावाद के सुखवादी सिद्धान्त' की कटु आलोचना की है। बेंथम ने अपने उपयोगितावादी सिद्धान्त के अन्तर्गत 'शुभ' को 'सुख' के रूप में परिभाषित करते हुए 'सुखवाद' की संकल्पना दी, जिसमें उसका मानना है कि व्यक्ति जो कुछ भी करता है उसमें वह प्रसन्नता को ज्यादा एवं दुःख को कम करना चाहता है। वह चार प्रकार के सुखों–'व्यक्तिगत सुख', 'सामाजिक सुख', 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' एवं 'अधिकतम सम्भाव्य सुख' में से 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' का चुनाव करता है और बेंथम यहीं न्याय के मार्ग से भटक जाता है। रॉल्स भी अपने सिद्धान्त में बेंथम के उपयोगितावादी 'सुखवाद' की आलोचना करता है। गांधी जी ने सुखवादियों की तरह अधिकतम लोगों

के अधिकतम सुख को कभी अपना आदर्श नहीं माना। उनका मानना था कि यह अवधारणा 'कुछ लोगों' के अहित यहाँ तक कि उनकी हत्या का अवसर प्रदान करता है जो न तो समाज के हित में है और न ही गांधी जी के सत्य एवं अहिंसा की विचारधारा के अनुरूप। उन्होंने बेंथम के उपयोगितावाद के साथ–साथ जॉन रॉस्किन के 'अल्पमतवाद' की भी आलोचना की। उनका मानना था कि अल्पमतवाद में अल्पमत या कुछ लोगों के हित की सिद्धि के लिए बहुमत के हित की तिलांजलि की बात की गयी है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि गांधी जी ने बेंथम के 'उपयोगितावाद' एवं रॉस्किन के 'अल्पमतवाद' के मध्य सुखद समन्वय स्थापित कर उसे 'सर्वमतवाद' बना दिया तथा 'सर्वोदय' का नाम दिया। इस तरह उन्होंने 'सबका अधिकतम हित' की संकल्पना व्यक्त की। इसके साथ–साथ उन्होंने एक ऐसे राज्य की स्थापना पर बल दिया है जिसमें शीघ्रतम न्याय, कम कीमत पर न्याय, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, असमानता से स्वतंत्रता, साम्प्रदायिकता, भेदभाव एवं महिलाओं के साथ होने वाले भेदभाव की समाप्ति आदि की व्यवस्था हो। गांधी जी ने अपने चिन्तन में प्रो0 लास्की के उस कथन की ओर संकेत किया है कि राज्य को ऐसी स्थिति उत्पन्न करनी चाहिए जिसके अन्तर्गत लोग अपने विकास के लिए मार्ग का चयन एवं उसका अनुसरण कर सकें। वे अपने 'सर्वोदय' के सिद्धान्त में लोगों से संयमित जीवन जीने एवं अपनी भौतिक आवश्यकताओं एवं इच्छाओं को सीमित करने पर बल देते हैं। इससे आगे बढ़ते हुये गांधी जी प्राचीन भारतीय दर्शन के एक प्रमुख तत्त्व 'अपरिग्रह' का अनुसरण करते हुये कहते हैं कि धनिक वर्ग स्वप्रेरणा एवं नैतिक चेतना से प्रेरित होकर अपना धन स्वेच्छा से गरीबों के कल्याण हेतु समर्पित कर देगा।

डॉ0 अम्बेडकर एवं सामाजिक न्याय

जब बात सामाजिक न्याय की हो तो वहाँ डॉ0 अम्बेडकर का उल्लेख न किया जाना 'भारत में सामाजिक न्याय' की अवधारणा के साथ अन्याय होगा। उनका चिन्तन मुख्यतः 'दलित एवं वंचित वर्ग के अधिकारों के लिए संघर्ष एवं अस्पृश्यता का अन्त' पर केन्द्रित रहा है, जिसका विस्तृत विश्लेषण उन्होंने अपनी प्रमुख पुस्तक "Annihilation of Caste" (1936) के अन्तर्गत किया है। उनका मानना था कि भेदभावपूर्ण व्यवस्था में सामाजिक एवं आर्थिक विकास के लिए कोई स्थान नहीं है जिसके सन्दर्भ में उन्होंने 'सामाजिक एवं आर्थिक लोकतंत्र' को राजनीतिक लोकतंत्र की पूर्व शर्त बताया। अपनी पुस्तक में डॉ0 अम्बेडकर ने अस्पृश्यता में छुपे अन्याय एवं दलित वर्ग के उत्थान के लिए तीन प्रमुख बिन्दुओं का उल्लेख किया है, जो निम्नलिखित हैं :–

- अछूत ही अछूतों का नेतृत्व कर सकते हैं, अर्थात उन्हें आत्म–सुधार करना होगा। उन्हें आत्मसम्मानपूर्ण व्यवहार करना, नशाखोरी, गोमांस भक्षण आदि जैसी सामाजिक एवं नैतिक दृष्टि से बुरी आदतों का त्याग करना होगा।
- दलितों को औचित्यपूर्ण प्रतिनिधित्व अर्थात् शासन के विभिन्न स्तरों पर दलित एवं वंचित वर्ग के कार्यों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिलने से उनकी निर्णय–निर्माण प्रक्रिया में भागीदारी, शिकायतों का त्वरित निवारण, सामाजिक दृष्टि से समानता का बोध तथा आत्मविश्वास में वृद्धि होगी।
- डॉ0 अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म में व्याप्त असमानता की समाप्ति तथा समानता की स्थापना हेतु एक आन्दोलन चलाया जिसके अन्तर्गत उन्होंने मन्दिरों में दलितों के प्रवेश, तालाब सत्याग्रह जैसे कार्य किये।

सामान्यतः वे एक ऐसे राज्य एवं समाज की स्थापना के पक्षधर थे जिसमें जाति, लिंग, जन्मस्थान, प्रजाति, धर्म, रंग आदि के आधार पर कोई विषमता, शोषण व विशेषाधिकार न हो। सभी को समान अधिकार एवं समान अवसर मिले। उन अमानवीय परिस्थितियों एवं अनैतिक विचारधारा का अन्त हो जिससे समाज में ऊँच–नीच जैसी प्रवृत्ति ने जन्म लिया तथा अस्पृश्यता का उदय हुआ। इस संदर्भ

में वे महात्मा ज्योतिबा फूले से अत्यधिक प्रभावित थे, जिनका मानना था कि जन्म से सभी मनुष्य समान हैं और भारत के लिए, विदेशी शासन से स्वतंत्रता की तुलना में 'सामाजिक लोकतंत्र' ज्यादा महत्त्वपूर्ण है।

सामाजिक न्याय की स्थापना हेतु संवैधानिक प्रावधान

बीसवीं सदी में भारत सहित विभिन्न देशों के संविधानों में सामाजिक न्याय की महत्ता को स्वीकार किया गया है। भारतीय संविधान की उद्देशिका में 'न्याय का आदर्श' जिन तीन आधारभूत स्तम्भों पर स्थापित है उसमें सामाजिक न्याय प्रमुख है। इसके साथ–साथ व्यक्ति को गरिमापूर्ण जीवन जीने, आत्मविकास के पूर्ण सुलभ अवसर प्राप्त करने को लक्षित किया गया है। मनुष्य को एक साध्य के रूप में (व्यक्ति किसी लक्ष्य सिद्धि के लिए साधन मात्र नहीं है) स्थापित कर एक समतामूलक समाज की स्थापना की गयी है जहाँ सभी 'अवसर की समानता' की स्थिति में हों। यद्यपि विभिन्न देशों के संविधानों में न्याय/सामाजिक न्याय के प्रावधान किसी भी प्रकार से राजनीतिक दर्शन को समृद्ध भले ही न करते हों तथापि सामाजिक न्याय की अवधारणा के विकास के मार्ग में निःसंदेह एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव के रूप में देखे जा सकते हैं।

वैश्विक स्तर पर देखा जाए तो वर्तमान समय में महिलाएँ, बच्चे, शरणार्थी, निःशक्त, लैंगिक अल्पसंख्यक आदि की स्थिति न केवल हाशिए पर है बल्कि वे स्वयं को असुरक्षित एवं उपेक्षित महसूस करते रहे हैं। भारत में स्वतंत्रता के समय स्थिति और भी विकट रही है। भारत में दलित एवं शोषित वर्ग, अल्पसंख्यक आदि की एक बड़ी संख्या निवास करती है। भारत में स्वतंत्रता के समय महिलाओं की स्थिति भी कोई विशेष सुखद नहीं थी। दलित वर्ग की महिलाओं की स्थिति और भी दयनीय थी। उन्हें एक तरफ महिला होने के कारण तो दूसरी तरफ दलित होने के कारण शोषण अर्थात् दोहरे शोषण का सामना करना पड़ता था। समाज में अस्पृश्यता जैसी अमानवीय एवं अनैतिक बुराई व्याप्त थी। ऐसी स्थिति में भारतीय संविधान का निर्माण हुआ। भारतीय संविधान निर्माताओं ने इस स्थिति के निराकरण की दिशा में बड़ी सजगता से कार्य किया। संविधान के भाग–III (मौलिक अधिकार) एवं भाग–IV (राज्य के नीति निदेशक तत्त्व) के माध्यम से व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं सामाजिक न्याय के मध्य सुखद समन्वय स्थापित किया गया है।

सामाजिक न्याय के संदर्भ में भारतीय संविधान के भाग–III (मूल अधिकार) के अन्तर्गत विधि के समक्ष समता (अनुच्छेद–14), सामाजिक स्थिति अर्थात् धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग व जन्मस्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध (अनुच्छेद–15), राज्याधीन पदों पर अवसर की समानता (अनुच्छेद–16), अस्पृश्यता का अन्त (अनुच्छेद–17), मनुष्य के पुण्य एवं बेगार के प्रतिषेध (अनुच्छेद–23), अन्तःकरण की और धर्म को अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने की स्वतंत्रता (अनुच्छेद–25) का प्रावधान किया गया है। संविधान के भाग–III में सम्मिलित इन सभी अनुच्छेदों के माध्यम से व्यक्ति की गरिमा तथा लोगों के मध्य समानता स्थापित करने का प्रावधान किया गया है। एक ऐसे समतामूलक समाज की स्थापना को लक्षित किया गया है जिसमें सामाजिक स्तर के आधार पर 'विभेद का निषेध' एवं 'अवसर की समता' हो किन्तु संविधान दलित एवं वंचित वर्गों के हित के साथ–साथ समाज एवं राष्ट्रहित में राज्य को सकारात्मक भेदभाव पर आधारित कानून बनाने की अनुमति देता है, जिसकी परिणिति विभिन्न वर्गों को संविधान के माध्यम से स्थापित 'आरक्षण' के रूप में हुई है। जैसा कि संविधान के माध्यम से लोकसभा में अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लिए स्थानों का आरक्षण (अनुच्छेद–330), राज्य विधान–सभाओं में अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लिए आरक्षण (अनुच्छेद–332), पंचायतों में

आरक्षण एवं नगरपालिकाओं में आरक्षण (अनुच्छेद–243) के प्रावधान के साथ–साथ अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लोगों के हितों के संरक्षण हेतु अनुच्छेद–338 व अनुच्छेद–338क के माध्यम से सम्बद्ध वर्ग हेतु आयोग स्थापित किये जाने का प्रावधान है।

उपर्युक्त संवैधानिक संरक्षण के साथ–साथ भारतीय संविधान भाग–IV (नीति निदेशक तत्त्व) के अन्तर्गत विभिन्न सामाजिक–आर्थिक अधिकारों के माध्यम से सामाजिक न्याय की अवधाराणा को और अधिक सशक्त बनाने का प्रयत्न किया गया है। संविधान में उपबन्धित है–काम, शिक्षा व लोक सहायता पाने का अधिकार (अनुच्छेद–41), काम की यथोचित व मानवोचित दशा व प्रसूति सहायता का प्रावधान (अनुच्छेद–42), श्रमिकों के लिए निर्वाह मजदूरी (अनुच्छेद–43), नागरिकों के लिए समान सिविल संहिता (अनुच्छेद–44), सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार, भौतिक सम्पत्तियों का सामूहिक हित के सर्वोत्तम रूप में वितरण, समान कार्य के लिए समान वेतन, शैशव तथा किशोरावस्था के शोषण से तथा नैतिक व आर्थिक परित्याग से संरक्षण आदि (अनुच्छेद–39) का प्रावधान किया गया है। संक्षिप्ततः ये सभी प्रावधान सामाजिक न्याय को एक सुदृढ़ सोपान प्रदान करते हैं। संविधान के भाग–IX के अन्तर्गत पंचायती राज व्यवस्था के अन्तर्गत अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति तथा महिलाओं के लिए स्थानों का आरक्षण सामाजिक न्याय की स्थापना के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण कदम है। इसके साथ–साथ मातृत्व लाभ अधिनियम, सुकन्या योजना, गर्भावस्था के दौरान बर्खास्तगी के विरुद्ध संरक्षण, अनैतिक व्यापार की शिकार महिलाओं हेतु विशेष कार्यक्रम, प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना, उड़ान योजना, सुमंगला योजना आदि सामाजिक न्याय की स्थापना के सन्दर्भ में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इस तरह संविधान में वर्णित मूल अधिकारों एवं नीति निदेशक तत्त्वों के माध्यम से 'व्यक्तिगत स्वतंत्रता' व 'सामाजिक–आर्थिक न्याय' के मध्य एक सुखद एवं अनोखा संतुलन स्थापित कर सामाजिक न्याय को सुनिश्चित किया गया है।

निष्कर्ष

सामान्यतः सामाजिक न्याय की संकल्पना का सर्वोपरि लक्ष्य न केवल समाज के दलित, शोषित एवं वंचित वर्ग बल्कि महिलाओं, वृद्धों, बच्चों आदि को सामाजिक–आर्थिक एवं राजनैतिक दृष्टि से समाज की मुख्य धारा में सम्मिलित करना था जिसके लिए 'न्याय की स्थापना हेतु सही प्रक्रिया क्या है' पर बल दिया गया। इस संदर्भ में जहाँ रॉल्स सामाजिक न्याय की स्थापना हेतु 'सामाजिक संविदा सिद्धान्त' पर आधारित 'न्याय के प्रक्रियात्मक सिद्धान्त' पर बल देते हुए समाज के सबसे कमजोर वर्ग की बात करता है तो वहीं अम्बेडकर एक विशेष वर्ग अर्थात् दलितों के उत्थान की बात करते हैं जिसके लिए वे किसी संविदा के बजाए कानूनी उपायों का सहारा लेते हैं।

वस्तुतः सामाजिक न्याय की स्थापना में राजनीतिक संस्थाओं, व्यक्तिगत व वास्तविक कारकों का महत्त्वपूर्ण स्थान हेाता है। इस दिशा में 'प्रशासन' एवं 'सरकार' की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती है। आवश्यकता इस बात की है कि ये संस्थाएँ अपने सामाजिक एवं आर्थिक उत्तरदायित्वों का न केवल कुशलतापूर्वक निर्वाह करें बल्कि मानवतावादी दृष्टिकोण स्थापित करें। एक ऐसी आदर्श स्थिति की स्थापना हो जिससे समाज में व्यक्ति का अस्तित्व बिना किसी भेदभाव के स्वीकार्य हो। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु डॉ0 अम्बेडकर ने एक 'जाति रहित समाज' का विकल्प दिया जिसमें न्याय, स्वतंत्रता एवं विकास के समस्त अवसर सम्पूर्ण समाज को प्राप्त होते हों। भारतीय संविधान एवं संविधानोत्तर भारत में संसद एवं राज्य विधान मण्डलों द्वारा अधिनियमित विभिन्न कानून सामाजिक न्याय की स्थापना हेतु एक क्रान्तिकारी प्रतिमान स्थापित करते हैं किन्तु सामाजिक न्याय की स्थापना के ये सभी संवैधानिक एवं गैर

संवैधानिक प्रावधान तभी सार्थक हो सकते हैं जब इन्हें लागू करने वाली एवं उन्हें कार्यान्वित करने वाली संस्थाएँ स्वतंत्र एवं निष्पक्ष भाव से अपने दायित्वों का निर्वहन करें। सामाजिक न्याय की स्थापना के सन्दर्भ में भारत सरकार व राज्य सरकार दोनों के कदम सराहनीय हैं।

सन्दर्भ सूची –

- दाधीच, नरेश, समसामयिक राजनीतिक सिद्धान्त, जयपुर, रावत पब्लिकेशन्स्, 2015
- काश्यप, डॉ0 सुभाष, विश्व प्रकाश गुप्त, राजनीति कोष, दिल्ली विश्वविद्यालय (दिल्ली), हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, अगस्त, 2015
- चौबे, कमल नयन, (अनु0), समकालीन राजनीति–दर्शन : एक परिचय, दिल्ली, पियर्सन, 2013
- गुर्जर, लीलाराम, बीसवीं सदी के राजनीतिक विचारक, नई दिल्ली, मनोहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीव्यूटर्स, 1997
- गाबा, ओम प्रकाश, राजनीति–चिन्तन की रूपरेखा, नोएडा, मयूर पेपर बैक्स, 2012
- लक्ष्मीकांत, एम0, भारत की राजव्यवस्था, चेन्नई, मैक्ग्रा हिल एजूकेशन (इण्डिया) प्रा0लि0, 2017
- भारत, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 2018
- बसु, डॉ0 दुर्गा दास, भारत का संविधान : एक परिचय, गुरुग्राम (गुड़गाँव), हरियाणा, लेक्सिस–नेक्सिस, 2015
- पाण्डेय, तेजस्कर, संगीता पाण्डेय, भारत में सामाजिक समस्याएँ, नयी दिल्ली, टाटा मैक्ग्रा हिल एजूकेशन प्रा0 लि0, 2012
- साधना आर्य, निवेदिता मेनन व जिनी लोकनीता (सम्पादक) (2015)– नारीवादी राजनीतिः संघर्ष एवं मुद्दे, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।
- द हिन्दू।